RESEARCH HUB – International Multidisciplinary Research Journal (RHIMRJ)
Research Paper

मधुराभक्ति : एक विवेचन

डॉ0 चिन्मयी कुमारी

व्याख्याता, संस्कृत विभाग, एस०डी०एम०वाई० डिग्री महाविद्यालय, धोरैया, बांका तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

संक्षिप्त शोध सार

भक्तितत्व को काव्यशास्त्रीय रस के रूप में प्रतिष्ठापित करने में आचार्य सरस्वती का अप्रतिम योगदान तो रहा ही है साथ ही आवन्तर कालीन अन्य आचार्यों ने भी उनकी इस अभिनव स्थापना से प्रेरणा ग्रहणकर अपने–अपने ग्रन्थों में एतांषयक सिद्धान्त की विस्तृत समीक्षा कर अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तपक्ष में उपबृंहता में अपनी–अपनी विलक्षण प्रतिभा का चमात्किारिक प्रकाशन किया है।

शब्दकुंजी

भजनम्, भक्ति, स्वर्ग, मोक्ष

विश्लेषण

भक्ति शब्द 'भुजो वामर्दने' धातु से 'भजर्न भक्तिः' इस प्रकार की व्युत्पत्ति करने से निष्पन्न होता है। आमर्दन का अर्थ होता है रौंद देना अर्थात् जिससे सांसारिक रागद्वेश, माया–मोह एवं अविद्या को रौंद दिया जाय उसे भक्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि हृदय की सान्त्विक वृत्ति उपब्रृंहण में जो वृत्ति सबसे अधिक सहायिका होती है वही भक्ति कहलाती है। भक्ति शब्द की दुसरी व्युत्पत्ति ''भागों भक्ति'' है। जिस प्रकार सांसारिक वस्तुओं का विभाजन करते समय किसी निश्चित व्यक्ति के हिस्से में आने वाला अंश भाग कहलाता है उसी प्रकार व्यक्ति पर जब किसी सांसारिक व्यक्ति का स्वत्व न रहे और केवल ईश्वर का ही उस व्यक्ति पर स्वामित्व हो तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति ईश्वर का एक भाग बन जाता है। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से भक्ति शब्द की तीसरी व्युत्पति है–भजनै भक्तिः। गोपाल पूर्व तापनीय उपनिशद्––में आया हैः

''किं नाम भजनम्? भजसं नाम रसनम्।''

अर्थात् भक्ति रसास्वादन की एक विशिष्ट प्रक्रिया है या रस लेने को ही भक्ति कहते हैं। भक्ति की यह परिभाषा रस शब्द की परिभाषा के पूर्णतः साम्य रखती है। रस शब्द की निष्पति– ''रस्यते आस्वाचते इति रसः''– अथवा ''रसनं रसः''– इस प्रकार की जाती है। इस प्रकार भक्ति का रसत्व भी स्वतः सिद्ध हो जाता है।

नारद ने अपने भक्ति सूत्रों के माध्यम से भक्तित्व का विशद विवेचन किया है। सूत्र संख्या पच्चीस में उन्होने भक्ति को ज्ञान, कर्म एवं योग से भी अधिक श्रेष्ठ माना है। नारद का कथन है कि कुछ आचार्यों के अनुसार ज्ञान, कर्म एवं योग भक्ति के साधन हैं। ज्ञान आदि के साधन द्वारा भक्ति सिद्ध होती है। अपने उन्तीसवें सूत्र में उन्होंने कहा है कि कुछ आचार्य ज्ञान और भक्ति को अन्योन्याश्रित मानते हैं। ऐसे आचार्यों के मतानुसार ज्ञान भक्ति के द्वारा और भक्ति ज्ञान के द्वारा सिद्ध होती है। आचार्य बल्लभ ने भक्तिमार्ग और ज्ञान मार्ग को भिन्न–भिन्न माना है। दोनों का फल भी उनकी सम्पत्ति में अलग–अलग है। ज्ञानमार्ग का फल केवल अक्षर ब्रह्म का ज्ञान और उसके द्वारा उपलब्ध मोक्ष अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति है। परभक्ति–मार्ग का फल पुरूषोत्तम में प्रवेश है। भक्ति मार्ग ज्ञाननिरक्षेप है परन्तु प्रेम–भक्ति से उत्पन्न पुरूषोत्तम का ज्ञान लीला–प्रवेश का साधन है।

नारद ने तीसवें सूत्र में सनक, सनन्दन, सनत्कुमार आदि ब्रह्म कुमारों का मत दिया है जो भक्ति का फलभक्ति को ही मानते हैं भक्ति स्वयं फलरूपा है। इसलिए उसके साधनों का वर्णन आचार्यों ने किया है। इससी उद्देश्य 'भक्तिसूत्र' में कहा गया है–

''फलस्य त्वात्।''

'अद्वैत सिद्धि' के कर्त्ता श्रीमधुसूदन सरस्वती ने गीता की अपनी टीका में निम्न श्लोक दिया हैः

''प्रमाण्यतोऽपि निर्णीत कृष्णामाहात्म्यम द्भुतम्।
ये नरा नानुमन्यन्ते ते तु नकर गामिनः।।

नारद ने जिस भक्ति को स्वतः प्रमाणरूपा, शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा कहा है तथा शाण्डिल्य ने जिस ऐश्वर्यपरा और आत्मेक परा माना है वह साधन और साध्य–दोनों रूपों को अपने अन्दर समाविष्ट किये है। आचार्यों ने भक्ति को साध्य मानकर प्रेम के सातत्यरूप की भी प्रधानता दी है। भक्ति के द्वारा वे किसी फल की प्राप्ति को हेय स्थान देते हैं।

2016, RHIMRJ, All Rights Reserved *ISSN:* 2349-7637 (Online)

'भगवान् ब्रह्मा ने अच्छी प्रकार बुद्धि से तीन बार विचार किया और अन्त में यह निश्चित किया कि आत्मस्वरूप में रति से ही कल्याण हो सकता है। इस लोक में पुरूषों के लिए निःश्रेयस के उदय का मार्ग यही है कि वे तीव्र भक्तियोग से अपने मन को मुझ में अर्पण कर स्थिर कर लें'– यह कथन भागवत का ही है, जिसे आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'भगवद्भति रसायन' नामक ग्रन्थ में उद्घृत किया है।

भागवत के एकादश स्कन्ध में भक्तियोग पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वहाँ कहा गया है कि ज्ञान योग की अवधि वस्तुतः भक्तियोग ही हैं अर्थात् ज्ञान की उपयोगिता तभी तक है जब तक भक्ति न हो जाय। क्योंकि भक्तियोग के बिना मन अच्छी प्रकार प्रसन्न नहीं होता है। यम, नियमादि अष्टांग मार्ग योग से, आन्वीक्षि की (कर्ममार्ग) से, विद्या अर्थात् ज्ञानमार्ग से और मेरी पूजा–उपासना आदि से योग्य हुए मन मेरा स्मरण करता है अन्य उपायों से नहीं।

वस्तुतः क्लेशमय ज्ञानयोग एवं कर्मयोग की तुलना में भक्तियोग श्रेष्ट पुरूषार्थ है। अत्यन्त मधुर होने के कारण मुक्त जन भी इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते है और इसकी कोई अवधि नहीं ही क्योंकि इससे बढ़ कर कोई योग नहीं है। भगवान् ने स्वयं कहा है–

''तख्यान्मद्भक्ति युक्तस्य योगिनी वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न वे वेराग्य प्रायः श्रेयो भवेदिह।।

अर्थात् इसीलिए मेरी भक्ति से युक्त और मुझमें ही आत्म समर्पण कर देने वाले योगी का प्रायः न ज्ञान से कल्याण होता है और न वैराग्य से। केवल भक्ति ही उसके लिए श्रेयस्कर है। आगे भगवान् ने स्वयं कहा है–

''यत् कर्मभिर्यतपसा ज्ञानवेरागयतष्च यत्।
योगं न दानधर्मेण श्रेयोभिरित रैरपि।।
सर्व मद्भक्तियोगे न मद्भक्तो लभतेऽजस्य।
स्वर्गापवर्गे मद्वाम अर्धचिंद यदि वांछति।।
न किंचित् साधवों धीरा भक्ता ह्येकान्तिनी मम।
वांछन्त्यपि मया दले केवल्यमपुन भर्वम्।।
नेरपेक्ष्यं परं प्राहुर्नि श्रेयसमनल्प कम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य में भवज्ञ।।
न मय्केकान्तभक्तानां गुणादोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचितानां बुद्धेः परमुर्पयुषाम्।।''

इस प्रकार भागवतादि विभिन्न ग्रन्थों में भक्तितत्व की महत्ता का विशद विवेचन किया गया है।

रस के रूप में भक्ति

भक्ति की रस के रूप में प्रतिष्ठापित करने में अनेक आचार्यों का योगदान रहा है। इस विषय का सविस्तार उल्लेख आगे किया जायेगा। भक्तित्व को रसरूप में प्रतिष्ठापित करने में आचार्य मधुसूदन सरस्वती का भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। रसनिश्पति के विषय में इनका दृष्टिकोण भी भरतानुमोदित ही है। ये भी 'रसजिज्ञासा' के क्रम में विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग में स्थायीभाव के रसरूप में निष्पन्न होने का समर्थन करते हैं :

''ननु कोऽयं रसो नाम किं निष्ठो वा भवेदसौ।
अस्य प्रत्यायकः को वा प्रतीतिरपि कीदृशी।।
विभावेरनुभावेश्च व्याभिवारिभिरप्युत।
स्थायी भावः सुखत्वेन व्यज्यमानों रसः स्मृतः।।

ये भी श्रृंगार, हास, करूण आदि रसों के सद्भाव को स्वीकार करते हैं किन्तु काव्य प्रकाशकार आदि ने जो देवादि विषयक रति को रसकोटि में न रखकर भावकोटि में रखा है वह इन्हें मान्य नहीं है। इनका कथन है कि जिन भरत, सम्मट आदि रसतत्त्वक आचार्या ने देवादि विषयक रति को भव के रूप में स्वीकार किया है वह अनुचित है क्योंकि उनका वैसा कथन जीवरूप होने से तथा पूर्ण आनन्द का प्रकाशक न होने से अन्य देवताओं के विषय में है, उसे परमानन्द परमात्मा श्रीकृष्ण पर लागू नहीं करना चाहिए। अभिप्राय यह हे कि देवता के विषय में जो रति है वह भाव पद वाच्य हो सकती है किन्तु श्रीकृष्ण विषया रति आदि में पूर्ण सुख का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं होता इसलिए उससे रस–पुष्टि नहीं होती। परिपूर्ण रसवाली भगवद् विषयारति कान्तादिविषयक रितवाले क्षुद्र रसों से ऐसे ही बलवान है जेसे कि सूर्य प्रभा जुगनुओं की प्रभा की तुलना में अत्यन्त तीव्र होती है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है:

निष्कर्ष

इस प्रकार आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के रसत्व को स्पष्टतः स्वीकार किया है तथा उसके भावत्व का भी खण्डन किया है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी संकेत कर दिया है कि भगवद्विषयक अर्थात् श्रीकृष्ण विषयक रति तो रसरूप ही है भले ही अन्यविषयक रति भाव हो जाय। इसी श्रीकृष्ण विषयक रति को आधार मानकर आचार्य रूपगोस्वामी ने 'हरिभक्ति रसामृतसिन्धु' तथा 'उज्जवलनीमणि' में भक्तिरस का सांगोपांग विवेचन किया है।

इस प्रकार भक्तितत्व को काव्यशास्त्रीय रस के रूप में प्रतिष्ठापित करने में आचार्य सरस्वती का अप्रतिम योगदान तो रहा ही है साथ ही आवन्तर कालीन अन्य आचार्यों ने भी उनकी इस अभिनव स्थापना से प्रेरणा ग्रहणकर अपने–अपने ग्रन्थों में एतांषयक सिद्धान्त की विस्तृत समीक्षा कर अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तपक्ष में उपबृंहता में अपनी–अपनी विलक्षण प्रतिभा का चमात्किारिक प्रकाशन किया है।

संदर्भ

1. भक्ति रस सिद्धांत–सा0ल0
2. भक्ति रस सिद्धांत–व्या0ल0
3. साहित्य दर्पण–तृतीय परिच्छेद
4. भक्ति रस सिद्धांत–सा0द0
5. साहित्य दर्पण–चतुर्थ प्रकाश।

2016, RHIMRJ, All Rights Reserved

ISSN: 2349-7637 (Online)